ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 8.4
IJAR 2018; 4(6): 393-397
www.allresearchjournal.com
Received: 14-04-2018
Accepted: 17-05-2018

राजीव कुमार प्रसाद
हिंदी शोधार्थी, यु० जी० सी० नेट, ल० ना० मि० वि०, दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
राजीव कुमार प्रसाद
हिंदी शोधार्थी, यु० जी० सी० नेट, ल० ना० मि० वि०, दरभंगा, बिहार, भारत

मुर्दहिया: अपराजेय योद्धा की विराट् युद्ध कथा!

राजीव कुमार प्रसाद

सारांश:
मुर्दहिया दलित साहित्यकार डॉ॰ तुलसीराम की आत्मकथा है, जिसके माध्यम से लेखक ने कई वर्षों से दलित आत्मकथाओं में साहित्य जगत के बंधे-बंधाये मानदण्डों को तोड़कर अपने जीवन से जुड़े उस सच्चे और कड़ुवे यथार्थ को सबके सामने उजागर करने का प्रयास किया है, जिसे उन्होंने स्वयं झेला। यदि 'जूठन' भारत के पश्चिमी उत्तर-प्रदेश की ब्राह्मणवादी, सामंती मानसिकता के उत्पीड़न की अभिव्यक्ति है तो 'मुर्दहिया' पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचल में शिक्षा के लिए जूझते एक दलित की मार्मिक अभिव्यक्ति है। जहां सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक विसंगतियां क़दम–क़दम पर दलित का रास्ता रोक कर खड़ी हो जाती है और उसके भीतर हीनताबोध पैदा करने के तमाम षड्यंत्र रचती है। लेकिन एक दलित संघर्ष करते हुए इन तमाम विसंगतियों से अपने आत्मविश्वास के बल पर बाहर आता है और जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय में विदेशी भाषा का विद्वान बनता है। यही इस रचना को एक गंभीर सरोकारों की रचना बनाता है जिसे पाठक और आलोचक सभी स्वीकार करते हैं। यह आत्मकथा दलित शिक्षा की वास्तवविकता और दलितों के लिए इसकी असंभाव्यता को बहुत सहजता से अभिव्यक्त करती है। आत्मकथा में दलित शिक्षा की दशा का जो चित्र खींचा गया है, उससे लगता है कि भारत के शिक्षा के इतिहास को दुबारा लिखा जाना चाहिए। सिर्फ फूलो दंपति और अंबेदकर के योगदान का रेखांकित कर इसे पूरा नहीं किया जा सकता। इसे मुक्कमल बनाने के लिए देश के कोने-कोने से कई तुलसीरामों के अनुभवों को समेटना होगा।
मुर्दहिया एक अपराजेय योद्धा की विराट् युद्ध कथा है। लेखक ने अपने इस भीषण युद्ध को पूरे दलित समाज के युद्ध से जोड़ कर इसे समग्र रूप देने की चेष्टा की है। यह युद्ध किसी खास कौम या जाति के खिलाफ नहीं बल्कि उस पूरे जातिवादी सिस्टम के खिलाफ है जो दलितों को इस जहालतपूर्ण जिंदगी जीने के लिए विवश किए हुए है।

मूल शब्द: सामंती, विसंगतियां, टहलुवा, ओगरवाही, विपन्नता, भूमंडलीकरण, उपेक्षा, हरवाही, ढ़िबरी, मुसहर, युगांतकारी, दुर्लभ, आकांक्षा, अकाल, कलाकृतियां, फाकाकशी, पराकाष्ठा, सामान्यीकरण, मनोवृत्तियों

प्रस्तावना
तुलसीराम ही नहीं उन दिनों लगभग सभी दलित परिवारों की ऐसी विषम परिस्थिति थी कि दलित बच्चों के लिए आगे पढ़ पाना अत्यंत कठिन था। मुर्दहिया दलित बच्चों के पढ़ने की दुर्लभ आकांक्षा की अद्भुत रचनात्मक अभिव्यक्ति है। आत्मकथा लेखक तुलसीराम को मात्र दस वर्ष की उम्र में मरे हुए पशुओं के खाल उतारने का काम करना पड़ता था। तुलसीराम लिखते हैं, " हमारे घर में मुन्नर चाचा चमड़ा छुड़ाने के काम में माहिर थे। चमड़ा छुड़ाते समय उन्हें एक टहलुवा (उनके अनुसार काम करने वाला) की जरूरत होती थी।

जब हमारी घरवाली कलोरी गाय मरी तो छह आदमी काड़ी पर ढ़ोते हुए मुर्दहिया पर ले गए । मुन्नर चाचा कहने लगे उस छुट्टी में मैं चमड़ा छुड़ाना धीरे-धीरे सीख जाउं ताकि भविष्य में इस चर्मकला में पारंगत हो सकूं। इससे भी कम उम्र यानी मात्र आठ वर्ष की उम्र में तुलसीराम को पंद्रह दिन सड़ी मानव लाश को गडढे से निकालाना पड़ा था। हुआ यों कि तुलसीराम के पिता जिस सुदेस्सर पांडेय का हल जोतते थे, उनकी माँ खरमास (अपशकुन) में मर गई। पंडितों ने कहा कि इनका दाहसंस्कार पंद्रह दिन बाद होगा। सबसे पहले तुलसीराम को अपने पिता के साथ उस मृत महिला की लाश को गाड़ना पड़ा, पंद्रह दिनों तक उसकी ओगरवाही (देखभाल) करनी पड़ी और फिर पंद्रह दिनों के बाद उस सड़ी गली लाश को गडढे से निकालकर चिता पर सजाना पड़ा।

यह थी तुलसीराम जैसे दलितों की जिंदगी। आज भी इन दलितों के जीवन में न आर्थिक बेहतरी आयी है और न शोषण ही खत्म हुआ है। विपन्नता की जहाँ तक बात है आज भी बिहार में कई दलित समुदाय बिल से चूहे निकालकर खाते हैं। जो अर्थशास्त्र के आंकड़े में विश्वास करते हैं और जीडीपी बढ़ने को समग्र आर्थिक विकास मान लेते हैं, ऐसे अनुसंधानकर्ताओं को बिल से चूहे निकालकर खाने वाले दलित समुदायों पर भी शोध करना चाहिए और आर्थिक विकास के आंकड़े से इसका मिलान करना चाहिए।

तुलसीराम ने मुर्दहिया में जिस तरह भूख और अभाव को चित्रित किया है वह भूमंडलीकरण और आर्थिक विकास के तमाम भारतीय दावे को दो कौड़ी का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। ये दलित चूहे के अतिरिक्त "ताल से सेरुकी नामक पौधे की जड़ें उखाड़कर जो एक बड़ी प्याज के चुकंदर जैसी लगती, पानी में उबालकर खाते।' इतना ही नहीं, "जब ये प्राकृतिक खाद्य सामग्री समाप्त हो जाती तो असाढ़ का महीना आते-आते घरों के पास की जमीनों पर फेंकी गई आम की गुठलियों से पौधे निकालने लगते थे। दो चार पत्तियों के पनप जाने के बाद बैंगनी रंग के ये पौधे बहुत मनमोहक लगते। इन्हें अमोला कहा जाता था। बच्चे जमीन से गुठली समेत इन अमोलों को उखाड़ लाते तथा गुठली के उपर का फटा हुआ कड़ा छिलका हटाकर अंदर से कच्ची गुठलियों को आग में भूनकर खा जाते थे।" आज भी कई दलित समुदायों को साल भर काम करने के एवज में फसल के मौसम में सिर्फ एक केड़ा अनाज मिलता है। तुलसीराम ने भी अपनी आत्मकथा में इस सचाई से पाठक को रू-ब-रू कराया है। इनकी आत्मकथा सिर्फ अपने दलितों के ही दुखों से नहीं भरा है बल्कि इसमें अन्य निम्न जातियों, दलितों के आसन्न संकट को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ महसूस किया गया है। इस तरह तुलसीराम अपनी संवेदनाओं का विस्तार करते हैं- "सबसे बुरी हालत नाइयों, धोबियों, मुसहरों तथा नटों की हो जाया करती।"

शिक्षा प्राप्त करने के लिए लेखक तुलसीराम का संघर्ष अप्रतिम है। एक-एक कक्षा पास करने के लिए तुलसीराम को एक-एक महाभारत जीतना पड़ा। एक तो शिक्षा के प्रति उसके परिवार में नासमझी और भ्रम, पैसे की घोर किल्लत और सबसे बढ़कर स्कूल में उच्च जाति की ओर से घोर उपेक्षा। तुलसीराम को इस उपेक्षा का दंश पहली कक्षा में ही डस गया था। छुआछूत तो खैर उस दिनों आम बात थी और सभी दलित बच्चों को एक साथ बैठना होता था किंतु सरकारी स्कूल के पंजी में भी अलग से उनके नाम एक साथ होते थे। जिस समुदाय को खाने के लिए आम की सूखी गुठलियां और पोधे की जड़ नसीब होती हो, उस बच्चे को साल में दो रूपये जुटाना कितनी बड़ी मुश्किल का काम रहा होगा, कल्पना की जा सकती है। उन दिनों शिक्षक पास करने के लिए दो रूपये प्रति विद्यार्थी वसूल करते जिसे 'पसकराई' कहा जाता। अर्थात पास कराने का घूस। एक बार कक्षा तीन में इस दो रूपये के अभाव में 'पसकराई' न दे पाने के कारण गुरुजी ने उन्हें फेल कर दिया। गनीमत यह हुई कि कक्षा तीन तक पहुंचते-पहुंचते वे स्कूल के सबसे तेज विद्यार्थी के रूप में पहचाने जाने लगे थे। हेडमास्टर साहेब के हस्तक्षेप से वे किसी तरह पास किए गए। तुलसीराम की कठिनाई यह थी कि उनके घर के लोग यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि पसकराई अनिवार्य घूस है। उन्हें लगता था कि तुलसीराम वास्तव में फेल कर जाता है और इसलिए उसे घूस देना पड़ता है।

तुलसीराम के लिए पढ़ाई जारी रखना असंभव था। दिन में या तो स्कूल में रहना या फिर पिताजी के साथ खेत में हरवाही का काम। रात को पढ़ने के लिए उनका मन बहुत ललचाता किंतु ढ़िबरी में तेल न होने के कारण वे पढ़ नहीं पाते। उनके घर में अंधेरा होने से पहले खाना बन जाता कि ढिबरी यानी दिया न जलाना पड़े। स्कूल में खाना से लेकर पानी तक के लिए इन दलित बच्चों को भारी संघर्ष करना पड़ता। खाने में जिस उच्छिष्ट दाने को वे स्कूल ले जाते, उसे अन्य बच्चों से छिपा कर खाते। स्कूल में पीने के लिए कुंए का पानी भी काफी जद्दोजहद से मिलता था। कई बार इस जद्दोजहद से तंग आकर इन दलित बच्चों को जलकुंभी का गंदा पानी पीना पड़ता।

दलित बच्चों को स्लेट और भट्ठा भी नसीब नहीं था। स्वंय निर्मित स्लेट और पेंसिल बनाना एक भारी मुहिम था, इन दलित बच्चों के लिए। शिक्षा के इतिहास में इस मुहिम का रेखांकन आवश्यक है- "उस समय प्राइमरी स्कूल में कागज पर लिखने का चलन नहीं के बराबर था सिर्फ कक्षा पांच में कागज पर कुछ-कुछ पढ़ाई-लिखाई शुरु की जाती थी। बाकी

सारी लिखाई-पढ़ाई हर छात्र लकड़ी की पट्टी पर करता था। करीब पंद्रह इंच लंबी और नौ इंच चैड़ी पट्टी को गांव के लोहार ही बसूले से गढ़कर रंदा से रगड़कर चिकना बना देते थे। किंतु उस पर लिखने लायक बनाने के लिए छात्र रोज पोचारा से रंगकर पटरी को धूप में सुखाते थे, जिसके बाद चुल्ला से रगड़कर खूब चमकाया जाता। इसके बाद इस पर दुधिया के घोल से नरकट की बनी कलम के द्वारा लिखा जाता था। लेखन सामग्री के रूप में पहली कक्षा में मेरे पास यही समान यानी एक लकड़ी की पटरी, एक घरिया दुधिए का घोल, एक नरकट की कलम, एक भरुकी पोचारा और एक चुल्ला रंगबिरंगे लग्गे थे, किंतु कोई किताब नहीं थी। इन्हीं समानों के साथ शुरु हुई मेरी चिट्ठी पढ़ने लायक क्षमता प्राप्त करने वाली युगांतकारी शिक्षा।''

मुर्दहिया की आलोचना कुछ दलित विद्वान इसलिए करते हैं कि इसमें सवर्णों के शोषण और दमन की मुखर अभिव्यक्ति नहीं मिलती। लेकिन वास्वविकता यह नहीं है। यह मुखर अभिव्यक्ति एसे धारदार व्यंग्य के माध्यम से तुलसीराम ने की है कि उसे व्यंगय की मार झेलने वाले ही समझ सकते हैं। एक बार तुलसीराम के स्कूल में हड़कंप मच गया। निरीक्षण का डर तो था ही लेकिन हड़कंप इसलिए मचा कि डिप्टी साहब जाति से 'चमार' थे। इन मास्टरों को डिप्टी साहब की आवभगत तो करनी ही थी, क्योंकि उनकी एक शिकायत पर उनकी नौकरी जा सकती थी। लेकिन सबसे बड़ी समस्या उनकी यह थी कि, '' खाना तो रोज की तरह अध्यापकों के चौके में बन जाएगा, किंतु अपनी थाली में कैसे खिलायेंगे। हेडमास्टर साहब ने मुझसे कहा कि मैं अपने घर से एक लोटा तथा थाली लाऊं, किंतु यह बात किसी को भी न बताऊँ। मैंने वैसा ही किया और उसी में डिप्टी साहब को खाना दिया गया। चमार डिप्टी साहब से सबसे ज्यादा डर इस बात के लिए था कि यदि वे स्कूल से नाराज हो गए तो, जिला केंद्र पर शिकायत कर देंगे और सारे अध्यापकों की तनख्वाह रोक दी जायेगी।''

तुलसीराम ही नहीं उन दिनों लगभग सभी दलित परिवारों की ऐसी विषम परिस्थिति थी कि दलित बच्चों के लिए आगे पढ़ पाना अत्यंत कठिन था। मुर्दहिया दलित बच्चों के पढ़ने की दुर्लभ आकांक्षा की अद्भुत रचनात्मक अभिव्यक्ति है। तुलसीराम तो जैसे तैसे प्रथम श्रेणी से पांचवीं पास कर गए किंतु उन्हें लगता नहीं था कि उनका नामांकन छठी कक्षा में हो पाएगा। क्योंकि छठी कक्षा के लिए उन्हें दूसरे स्कूल में नामांकन लेना था और उनकी पढ़ाई का लक्ष्य जो सिर्फ चिट्ठी पढ़ने तक के लिए था पूरा हो चुका था। पूरा घर उन्हें पढ़ाई छुड़वाने पर आमदा था, और हरवाही के लिए प्रेरित कर रहा था। पढ़ाई की इस अनिश्चितता में बालक तुलसीराम देवी- देवताओं के प्रति काफी आसक्त हो जाता है। अंततः दादी ने उनकी कठिनाइयों में उनके लिए एक नया रास्ता खोल दिया। इस तथ्य को स्वीकारते हुए वे लिखते हैं कि, ''1 जुलाई 1959 के आगमन ने मेरी चिंता को धधका दिया। यह एक ऐसी तारीख थी जिससे मेरा भविष्य तय होने वाला था। घर में कोहराम मचा हुआ था। बड़ी मुश्किल से दादी की ज़िद पर मुझे चार आना मिला, जो छठी कक्षा में नाम लिखाने की फीस थी। यह चवन्नी इस बात की गारंटी थी कि अब छठी से लेकर दसवीं कक्षा तक की पढ़ाई का मार्ग खुल गया। इस दिन मैं दौड़ते हुए स्कूल गया था। छठी कक्षा में मेरा दाखिला युगांतकारी सिद्ध हुआ, क्योंकि यहीं से शुरु हुई थी मेरी अंग्रेजी भाषा की शिक्षा, जिसके ज्ञान ने मुझे आगे चलकर गांव के किसी अन्य ग्रह का मानव बना दिया।''

सबसे अधिक कठिनाई तब आई जब उन्हें दसवीं कक्षा का फॉर्म भरने के लिए 30रू की आवश्यकता हुई। यह तीस रूपया उनके लिए अत्यंत मोटी रकम थी। उन्होंने एक साथ तीस रूपये सिर्फ दादी की कुल जमा पूंजी के रूप में ही देखा था जिसे दादी समय-समय पर उससे गिनवाती। उस खजाने को वह एक मटके में डालकर मिट्टी में गारकर रखती थी। तुलसीराम को लग गया कि अब वह दसवीं में वगैर परीक्षा दिए फेल कर गया। लेकिन तुलसीराम को तो यह जंग जीतनी थी। तुलसीराम की तीक्ष्ण मेधा और पारिवारिक परिस्थिति देखकर अध्यापक सुग्रीव सिंह तुलसीराम की लड़ाई में सहायक के रूप में खड़े हुए- ''मेरी दुर्दशा देखकर वही हिन्दी वाले अध्यापक सुग्रीव सिंह ने मेरे द्वारा बिना किसी आग्रह के स्वयं 30 रू0 फीस के रूप में जमा कर दिया। मुझे उन्होंने आश्वासन दिया कि और भी जरूरत पड़ने पर सहायता करते रहेंगे।''

किस तरह उन्हें चंडेसर डिग्री कॉलेज में दसवीं की परीक्षा देनी पड़ी उसका लोमहर्षक वर्णन आत्मकथा की विशेषता है। दरअसल उस कॉलेज में क्षत्रियों का बोलबाला था। उन दिनों चंडेसर परीक्षा केंद्र पर दलित परीक्षार्थियों में से अनेक जातीय हिंसा के शिकार हो जाते। चंडेसर में एक महीना रहना तुलसीराम के लिए फिर एक बड़ी कठिनाई थी। किंतु उनके परम मित्र चिंतामणि सिंह ने उनकी यह कठिनाई दूर कर दी। उन्होंने लिखा है कि ''परीक्षा शुरु होने के एक सप्ताह पूर्व चिंतामणि सिंह मुझे अपनी साइकिल पर बैठाकर चंडेसर ले गए, ताकि कहीं रुकने की व्यवस्था की जा सके। चिंतामणि सिंह मुझे अपने साथ रखना चाहते थे, किंतु मकान मालिक ने पहले ही साफ कह दिया था कि किसी चमार सियार को नहीं रहने दिया जायेगा। अंततः उन्हें किसी दलित परिवार में शरण मिली और जब दसवीं का परिणाम घोषित हुआ और वे प्रथम श्रेणी से दसवीं पास हुए। इनसे

पहले उस विद्यालय में कोई प्रथम श्रेणी से पास नहीं हुआ था।

तुलसीराम का असली संघर्ष दसवीं के बाद शुरु होता है। दसवीं के बाद की पढ़ाई आजमगढ़ में होती थी। गांव के ब्राह्मणों ने हल्ला कर दिया कि अब तुलसी को दो-तीन हजार रूपये महीने की नौकरी लग जायेगी। घर वाले इस रूपये को गंवाना नहीं चाहते थे। आजमगढ़ जाकर पढ़ने के रास्ते अत्यंत कंटकाकीर्ण थे। जो चिंतामणि सिंह ने उन्हें आश्वासन दिया था कि दसवीं पास करने के बाद आजमगढ़ में साथ- साथ पढ़ेंगे, वे दुर्भाग्य से फेल हो गए। अब तुलसीराम के पास कोई चारा नहीं था। लेकिन वे इस सत्य को जान गए थे कि जिंदगी दुबारा मिलने से रही। इसलिए अगर आगे की पढ़ाई करनी है तो इसी जिंदगी में कर लेनी है। उन्होंने अपनी इस बैचेनी और अंर्तद्वंद्व को अत्यंत सलीके से इस आत्मकथा में व्यक्त किया है।

घोर रौदी यानी अकाल में खेतों में पड़ी दरारों का रेखांकन जिस तरह से तुलसीराम ने किया है यह वगैर उन्नत साहित्य विवेक के संभव ही नही। प्रारंभिक कक्षाओं में गणित विषय से उनका गहरा लगाव था। यह अकारण नहीं कि इन दरारों की व्याख्या में गणित और साहित्य दानों का उपयोग तुलसीराम करते हैं, '' पानी की कमी के कारण धान के खेत, जिन्हें 'कियारा' कहा जाता, की जमीन फटकर चारों तरफ विभिन्न प्रकार की दरारों में बदल जाती थी। कियारों की इन फटी दरारों से अनेक जगहों पर तरह-तरह की प्राकृतिक कलाकृतियां बन जाती थीं। सारे खेत रेखागणित के नमूने लगते थे। कई दरारों में तो चिड़ियों की चोंच, उंट की गर्दन समेत मुंह तथा हाथी के सूंड नजर आते थे। उस अकाल का यह एक अनोखा सौंदर्य था जिसमें मानव की भूखमरी और असीम पीड़ा का साम्राज्य था।''

मुर्गे की बांग पर तो आज भी गांव में लोग जग जाते हैं किंतु मुर्गे की बांग इस दलित श्रमकिों के लिए अत्यंत कष्टकारी होता। मुर्गे की बांग के साथ ही गांव के जमींदार इन दलित श्रमिकों को अत्यंत अनादरपूर्वक जोर-जोर से चिल्लाकर जगाने लगते हैं और कई बार तो गालियों की बौछार भी कर देते हैं। तुलसीराम लिखते हैं कि, ''अत्यधिक कामके बाद थककर अधपेट खाकर रात में सोये हुए दलित मुर्गे की आवाज के बाद बिना नींद पूरी किए हुए मजबूरी में जागने पर प्रतिदिन दुखित होकर इन मुर्गों को गालियां देते थे।''

नटनियां तुलसीराम का सानिध्य प्राप्त करने हेतु उनसे अंग्रेजी सीखना चाहती थी। नटनियां की याचना को तुलसीराम ने अत्यंत प्रतीकात्मक ढ़ंग से अभिव्यक्त किया है,' 'मैं जब भी शाम के समय स्कूल से लौटते हुए मुर्दहिया से गुजरता, वह झोपड़ी से निकलकर रास्ते में अपने अंकवार'' (दोनों बाहों) में समा जाने वाले किसी पेड़ के तने को जकड़ लेती और अपने मुंह को निरंतर कभी दायें कभी बांये घुमाते हुए मुझसे कहती, '' हमहूं के रंगरेजिया पढ़ाव रे बाबू।' निश्चित रूप से नटनिया का यह आंगिक भाव प्रेम का खुला निमंत्रण था, संभव है लेखक छोटी उम्र के कारण इस भाव को न पहचान पाया हो, किंतु आत्मकथा लिखते समय उसे इन भावों के अर्थ खुले हों। तुलसीराम पूरी लगन से नटनियां को अंग्रेजी सिखाने लगे किंतु यह दूसरी बात है कि अंग्रेजी का एक ही वाक्य वह सीख पायी-'वल्चर्स आर सीटिंग आन पीपल ट्री'।

दसवीं उत्तीर्ण कर जब तुलसीराम गांव से भागते हैं, तो अपना समान एक दिन पहले नटनियां के घर जाकर रखते हैं। यद्यपि उसे वे बताते नहीं हैं कि वे भागने की योजना बना रहे हैं किंतु नटनियां की छठी इन्द्रियां भांप जाती है तभी तो कहती है, ''ओहर कहवां जात हउवे रे बाबू, तं तै बरहलगंज जाए खातिर टोटका कइले रहले।'' नटनियां के साथ का यह सर्वाधिक कारुणिक और मार्मिक प्रसंग तुलसीराम ने रचा है। जब नटनियां को विश्वास हो गया कि वे सचमुच गांव से भाग रहे हैं तो एक ही वाक्य दुहराए जा रही थी, ' अब लउटि के ना अइबे का रे बाबू।' तुलसीराम लिखते हैं, '' क्षण भर के लिए नटनियां वहीं खड़ी रही और शायद मेरे द्वारा पढ़ाई गई अंग्रेजी वह भूल गई थी, इसलिए बोल पड़ी ' पिपरा पे गिधवा बईठल हउवे।' इससे अधिक प्रेमाभिव्यक्ति क्या हो सकती है? आत्मकथा के अंतिम अध्याय ' आजमगढ़ में फाकाकशी' का आरंभ तुलसीराम इन पंक्तियों से करते हैं, 1 जुलाई 1964''(मेरा पंद्रहवां सर्टीफिकेट जन्मदिन) को घर से भागते हुए नटनिया तथा जोगी बाबा, दो ऐसे व्यक्ति थे, जिनसे होकर मैं एक अनिश्चित भविष्य के लिए रवाना हो गया।''

निष्कर्ष

बौद्ध दर्शन की संवेदनशीलता और समरसता ने मुर्दहिया को विद्रोह और आक्रोश की जगह दुख, करुणा और प्रेम की आत्मकथा बना दिया है। वरिष्ठ आलोचक चैथीराम यादव के शब्दों में ''मुर्दहिया रोती हुई संवेदनाओं की आत्मकथा है जिसे पढ़ते समय लेखक के बार-बार रोने का अहसास होता है। इसकी पराकाष्ठा मुर्दहिया से बिछुड़ने के दुख में होती है जब लेखक की गैर रोशनीवाली आंख से भी उतनी ही अश्रुधारा फूट पड़ती थी जितनी कि रोशनीवाली आंख से। आक्रोश का होना एक बात है और उसे सृजनशीलता में बदल कर मानवीय संवेदनाओं के व्यापक परिप्रेक्ष्य में एक सकारात्मक दिशा देना बिल्कुल दूसरी बात।'' मुर्दहिया को हम दलित आत्मकथा लेखन की दूसरी धारा कह सकते हैं। दलित आत्मकथा की पहली धारा की अधिकांश रचनाओं में

सवर्णों के असह्य दमन, घुट-घुट कर उस को बर्दाश्त करने रहने की विवशता और प्रतिक्रियास्वरूप उनके दमित क्रोध को रंखांकित किया गया है। निश्चित रूप से इन आत्मकथाओं ने समाज की एक ऐसी असलियत को साहित्य में स्थापित किया जिसे सायास बाहर रखने की कोशिश लंबे समय से चली आ रही थी।

आज तक के भारतीय साहित्य विशेषकर दलित केंद्रित भक्ति कविता इस बात को स्थापित करने में सफल रहा है कि प्रतिक्रिया में लिखा गया साहित्य संवेदनाओं को समग्रता में प्रकट नहीं कर पाता। यद्यपि प्रतिक्रिया में लिखे गए साहित्य का मूल्य कम नहीं होता क्योंकि वह ऐसे अनुभवजन्य शोषण के विविध रूपों को प्रकाश में लाता है जिसे कई परतों और अभेद्य दिवारों के अंदर छिपा कर रखा जाता है। लेकिन दूसरी तरफ यह भी सच है कि दुनिया का कोई भी समाज सिर्फ शोषण और दमन की भित्ति पर नहीं टिकी होता बल्कि उसमें एक समरसता भी होती है। किसी भी वर्ग या जाति को पूर्णतः शोषक मान लेना, एक तरह का सामान्यीकरण है। मुर्दहिया इसी सामान्यीकरण के खिलाफ शोषण की मनोवृत्तियों और टेन्डेन्सियों पर मारक प्रहार करते हुए समाज के समरस प्रकृति को सामने लाने का प्रयास है।